

सौन्दर्यशास्त्र की भारतीय परंपरा एवं 'रस' की विवेचना

डॉ. रूचि मिश्रा

असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग

आर्य महिला पी.जी. कॉलेज

वाराणसी, उत्तर प्रदेश

Email: ruchimishra379@gmail.com

सारांश

भारतीय चिंतन परम्परा में सौंदर्यशास्त्र की व्याख्या बड़े ही व्यापक रूप से की गई है। उपनिषदों से लेकर हिंदी साहित्य, संगीत, नाट्य सभी परम्पराओं में सौंदर्य को ही आनंद का हेतु एवं सुख का पर्याय माना गया है। भारतीय सौंदर्य दर्शन की परंपरा विभिन्न ग्रंथों और कोशों में सौंदर्य शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से लेकर वेदों संहिताओं में किन किन समानार्थी शब्दों का प्रयोग हुआ है एवं क्रमिक रूप से कैसे ये नव रसों में परिवर्तित हुआ इसकी विवेचना ही प्रस्तुत लेख में की गई है।

मुख्य शब्द: सौंदर्य, रस, भारतीय परम्परा, संगीत, नाट्य, नाट्यशास्त्र

भारतीय सौंदर्य दर्शन प्रधानतः आध्यात्मिक भावना से ओत-प्रोत है। सम्पूर्ण सौंदर्य भावना यहाँ "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की एक पंक्ति में समाहित है, क्योंकि जो सुन्दर है वह अस्तित्व में है वह किसी ना किसी प्रकार से दृष्टिगोचर हो रहा है एवं वह "सुन्दर" है क्योंकि उसमें आनन्दित करने की क्षमता है। जो आनन्ददायी है वह स्वतः ही कल्याणकारी है अतः वह "शिव" है। सुन्दर और शिव के अनुभव के पश्चात आने वाली तीसरी स्थिति "सुन्दरम्" की है, अर्थात् परम आनन्द की अनुभूति। भारतीय सौंदर्य दर्शन में सुन्दर शब्द की व्याख्या शब्दातीत मानी गई है, अगर हम इस परम्परा में सुन्दर क्या है का उत्तर ढूँढें, तो उत्तर यही प्राप्त होगा कि जो विलक्षण है वही सुन्दर है, जो आनन्ददायी है वही सुन्दर है, जिससे आत्मा का उत्कर्ष हो वही सुन्दर है, जिससे अनन्त शक्ति का आभास मिले वही सुन्दर है, जिससे शरीर में स्फूर्ति आए और आत्म शक्ति बढे वह सुन्दर है, जो विलक्षणता आत्म-विस्मृति करा सके वही सुन्दर है, जो दिव्यता दीप्तिकारक हो वही सुन्दर है। सौंदर्य तत्त्व मन की सत्ता के भाँती रहस्यमयी है, एवं सदैव परिवर्तित होता रहता है।

किसी भी तथ्य का स्वरूप जानने हेतु सर्वप्रथम उसके मूल को जानना होता है अतः भारतीय सौंदर्य दर्शन की अवधारणा को जानने हेतु उसके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को जानना होगा जो कि निम्न है-

भारतीय दर्शन के अनुसार सौंदर्य शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ इस प्रकार है- सौंदर्य 'सुन्दर' का भाववाचक रूप है। सुन्दर में स्यञ् प्रत्यय लगने से सौंदर्य शब्द की निष्पत्ति होती है- "सुन्दरस्य भावः सौंदर्यम्"। कोशमूलक अर्थ के अन्तर्गत सौंदर्य शब्द की व्युत्पत्ति के निम्न सोपान हैं¹—

- वाचस्पत्य कोश- 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्द' धातु में 'अरन्' प्रत्यय के योग से सुन्दर शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ चित को द्रवीभूत करने वाले कारक से है।
- हलायुध कोश- 'सुन्दर' शब्द की व्युत्पत्ति 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्दी' (क्लेदने) धातु में 'अर्' प्रत्यय के योग से सिद्ध की गई है।
- शब्दकल्पद्रुम- 'सुष्ठु' उनन्ति आद्री करोती चित्तमिति' अर्थात् जो चित्त को अच्छी प्रकार आद्र करता है वह सुन्दर है।
- संस्कृत-हिन्दी कोष- सुन्दर शब्द की व्युत्पत्ति 'सुन्द+अरः' के योग से होती है।
- अमर कोष में सुन्दर के अट्टारह पर्याय शब्दों को श्लोकबद्ध रूप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है-
सुन्दरं रूचिरं चारू सुषमं साधु शोभनम्
कान्तम् मनोरमं रम्यं मनोज्ञं मन्जु अभिष्टमीप्सितः
हृद्यं दयितं बल्लभं प्रियम्..

भारतीय परंपरा में सौन्दर्य शब्द का प्रचुरता से सुन्दर प्रयोग संस्कृत ग्रंथों में प्राप्त होता है। संस्कृत ग्रंथों में सौन्दर्य सम्बन्धी अवधारणा निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त होती है-

- ऋग्वेद में रूप, सुन्नरी, सूनर, चारू, अप्सु तथा पेशस शब्दों का प्रयोग सौन्दर्य के समानार्थी शब्दों के रूप में प्राप्त होता है। इसमें सौन्दर्य को श्री नाम से सम्बोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त श्रिय, श्रेष्ठ आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इसमें सु (उपसर्ग) अनेक बार सुन्दर के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है, जैसे- सुन्दर वीर पुरुष के लिए सुवीरासः, सुन्दर उत्तम बुद्धि वाले के लिए सुमतीनाम्, एवं परमेश्वर को सुरूपकृत्नु (वह अपने प्रकाश से सब पदार्थों को सुन्दर रूप से युक्त करने वाला है) कहा गया है। इसमें शुभ्रा शब्द का प्रयोग तेजस्विता के लिए हुआ है।
- अथर्ववेद में भी सुन्दर के अभिप्राय से अन्य शब्द मिलते हैं इसमें सम्भलः (यथा विधि सम्भाषण तथा निरूपण करने वाला वर), सुमति (सुन्दर बुद्धि वाली कुमारी), जुष्टा (प्रिय), समनेषु (साधु विचार वाले), वल्गु (मनोहर) सुषदा (रमणीक घर) आदि शब्दों का प्रयोग सौन्दर्य के अभिप्राय से हुआ है।
- यजुर्वेद में सौन्दर्य के पर्याय शब्दों के रूप में सुप्वा (यज्ञ से भली प्रकार पवित्र करना) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।
- रामायण में सुन्दर के समशील शब्दों के रूप में शोभन, चारू, अभिराम, रम्य, सुभग आदि का अनेकशः प्रयोग हुआ है।
- महाभारत काल में भी सुन्दरता की अभिव्यक्ति को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करने हेतु कई शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे- रूपवान, दर्शनीयश्च, शोभिने, रूचिरस्ते, मनोहरम् चन्द्रमुखी, प्रसन्ना, चित्त प्रसादिनी, प्रियदर्शन, सुभग, हृद्य आदि।
- श्रीमद्भागवत में सौन्दर्य के स्वरूप के पर्याय के रूप में विभूति शब्द का प्रयोग मिलता है एवं सौन्दर्य के स्वरूप को निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से बड़ी सरलता से व्यक्त किया गया है-

तदैव रम्यं रूचिरं नवं-नवं तदैवं शश्वन्मनसो महोत्सवम्.
तदैव शोकार्णव शेषणं नृणां यदुत्तमं श्लोक यशोऽनुगीयते..

- शंकराचार्य कृत सौन्दर्यलहरी में सौन्दर्य शब्द के पर्याय के रूप में लावण्य, धृति, विमल, आभा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

इनके अतिरिक्त सौन्दर्य के स्वरूप को विभिन्न शब्दावलियों यथा- चारूत्व, वैचित्र्य, शोभा, कान्ति, सौष्ठव, रमणीयता, लालित्य, लावण्य, चारू, चित्र, सुषम, शोभन, कान्त, रूचिर, मनोरम, सुष्ठु, विनोद आदि पर्यायों की सहायता से प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में व्यक्त किया गया। सौन्दर्य के मानस स्वरूप को वैदिक ऋचाओं में स्वीकृती मिली है- सौन्दर्य प्रीतिकर अथवा उल्लासप्रद है, मधुर है, स्फूर्तिप्रद है, चिरनवीन है, पवित्र है और दिव्य है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार- सौन्दर्य शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है। वैदिक साहित्य में सुन्दर तथा सौन्दर्य शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु प्रिय, पेशय, चित्र, रम्य, भद्र, मधुर आदि शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। सुन्दर शब्द का प्रयोग सबसे पहले रामायण में प्राप्त होता है। उसके पश्चात महाभारत में किन्तु वह अत्यन्त विरल है।¹

कलाशास्त्र में भी प्रायः उपर्युक्त शब्द ही मिलते हैं। जिसमें सौन्दर्य के लिए रूप, शोभा, विच्छिन्ति, वैचित्र्य आदि और सुन्दर के लिए रम्य, रमणीय, मनोज्ञ, मनोहर, चित्र, चारू आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, परन्तु उसे कोई भी पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं है।

काव्यशास्त्र में वामन, कुंतक आदि ने सौन्दर्य का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है, किन्तु सब मिलाकर यहाँ भी उसकी अपेक्षा शोभा, रमणीयता, चारूता आदि शब्दों का प्रचलन ही अधिक है। इसके अतिरिक्त भारतीय आचार्यों ने काव्य अथवा कला के सौन्दर्य के लिए अपने कुछ विशिष्ट शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग भी किया है, जैसे- रस, अलंकार, वक्रता आदि।

चिन्तन के विविध सोपानों के अन्तर्गत सौन्दर्य के विविध पक्षों के दर्शन विविध ग्रंथों में होते हैं। इसी क्रम में एक दृष्टि यह भी है कि सुन्दर वस्तु चाहे कितनी ही बुरे परिवेश में हो वह सुन्दर ही प्रतीत होती है, जैसे- कमल कीचड़ में खिलता है फिर भी वह सुन्दर ही प्रतीत होता है। महाकवि कालिदास ने इस कथन की पुष्टि करते हुए अपने ग्रंथ अभिज्ञान शाकुन्तलम में कहा है कि सौन्दर्य नैसर्गिक है, अलंकार सापेक्ष नहीं। धब्बों से युक्त चंद्रमा रम्य ही लगता है, अर्थात् इन तथ्यों का सार यही है कि सौन्दर्य में आकर्षण होता है और यह उसका स्वाभाविक गुण है।

महाकवि माघ के अनुसार- "क्षण-क्षणे यन्नुवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः" अर्थात्- रमणीयता (सौन्दर्य) क्षण-क्षण नवीनता को प्राप्त होता है। महाकवि के इस कथन से सौन्दर्य सम्बन्धी तीन तथ्य स्पष्ट होते हैं-

- सौन्दर्य प्रतिक्षण नवीनता को प्राप्त करता रहता है अतः उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है।
- सौन्दर्य पूर्ण वस्तुओं के दर्शन में अतृप्ति का भाव बना रहता है।
- सौन्दर्य अपनी सूक्ष्मता और अग्राह्यता से प्रेक्षक को चमत्कृत कर देता है।

सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में कहे गये प्रथम सिद्धान्त को हम एक पुष्प के उदाहरण से भी समझ सकते हैं- एक नन्ही कली जब पूर्ण रूप से पुष्प में परिवर्तित होती है, तो इसके बीच की समयावधि में उसका सौन्दर्य नित नवीन प्रतीत होता

¹नगेन्द्र, सौन्दर्य की परिभाषा व स्वरूप, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1974

है. दूसरे सिद्धान्त को हम आभूषण के परिप्रेक्ष्य में समझ सकते हैं, जैसे कोई आभूषण हमें अच्छा लगा तो हमारा मन बार-बार उसे देखने का, पहनने का करेगा, क्योंकि सौन्दर्य सदैव आकर्षित करता है. तीसरे सिद्धान्त सौन्दर्य की सूक्ष्मता को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि सौन्दर्य तत्व को हम सिर्फ अनुभव कर सकते हैं, उसे पकड़ नहीं सकते या छू नहीं सकते क्योंकि उसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, एवं इसकी यही विशेषता प्रेक्षक रसिक या श्रोता को आनन्दानुभूति कराती है.

डॉ० पुरुषोत्तमदास अग्रवाल के अनुसार- सौन्दर्य की प्रतिक्षण की नवीनता का विवरण केवल भारतीय परम्परा में ही प्राप्त है, पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र में इसकी चर्चा भी नहीं है. यह तथ्य पूर्ण रूपेण सत्य है क्योंकि भारतीय सौन्दर्य चिन्तन का मूल आधार उसका भौतिक स्वरूप ना होकर उसका सूक्ष्म स्वरूप है, जो कि श्रस सिद्धान्तश् के रूप में जाने कितने युगों से ललित कलाओं में गुण वृद्धि करने के साथ-साथ मानव के दैनिक जीवन को भी आनन्दित कर रहा है.²

डॉ० रामविलास शर्मा के कथनानुसार- प्रकृति, मानव-जीवन, तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है. वास्तव में सौन्दर्य तत्व जीवन के प्रत्येक क्षण में रचा-बसा हुआ है, जो कि विविध रूपों में सहज ही परिलक्षित हो जाता है. वास्तव में सम्पूर्ण चराचर जगत का आरम्भ और अन्त इसी सौन्दर्य तत्व में समाहित है, इस कारण से यह जीवन के विविध पक्ष से पूर्णतः सम्बद्ध है.³ डॉ०के. एस. रामस्वामी शास्त्री के अनुसार- सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य का विज्ञान है, जिसकी अभिव्यक्ति कला के माध्यम से होती है.⁴ पंचपगेश शास्त्री के अनुसार- सौन्दर्यशास्त्र रसानुभूति के माध्यम से प्राप्त आनन्द का दार्शनिक विवेचन है.⁵ डॉ०के. सी. पाण्डेय के अनुसार- सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं का विज्ञान व दर्शन है.⁶ गजानन माधव मुक्तिबोध के अनुसार- सौन्दर्य प्रतीति का संबंध सृजन प्रक्रिया से है. सृजन प्रक्रिया से हटकर सौन्दर्य प्रतीति असंभव हो जाती है. असलियत यह है कि सौन्दर्य तब उत्पन्न होता है जब सृजनशील कल्पना के सहारे संवेदित अनुभव का विस्तार हो जाये.⁷

उपरोक्त कथन भी कतिपय अर्थों में सत्य ही प्रतीत होता है. यह अटल सत्य है कि भारतीय वांगमय में सत्यं, शिवं, सुन्दरम की उपासना ही भारतीय सौन्दर्य चिन्तन का आधार है परन्तु हम सर्जना से उपजने वाले सौन्दर्य तत्व को नकार नहीं सकते. विशेषकर अगर हम उसे ललित कलाओं की दृष्टि से देखें तो. ललित कलाओं में तो सर्वस्व सुख सर्जना पर ही टिका है. दैनिक जीवन में भी सर्जना किसे सुख नहीं पहुँचाती, चाहे वह किसी भी प्रकार की हो जीवन में नवीन तथ्यों का आगमन सदैव सुख ही पहुँचाता है, और वही सुख विशिष्ट अर्थ में सौन्दर्य है.

जैसा कि पूर्व में भी स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय परम्परा में सौन्दर्य शब्द को उसके शाब्दिक अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है वरन् विशेष अर्थ में उसका प्रयोग 'रस' के अन्तर्गत किया गया है एवं 'रस' शब्द का भारतीय

²पुरुषोत्तम अग्रवाल दास, *मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य में रूप सौन्दर्य*, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली 1997, पृ. 68

³समालोचक, सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक, पृ.सं. 196

⁴के. एस. रामस्वामी शास्त्री, *इण्डियन एस्थेटिक्स*, श्री वानी विलास प्रेस, दिल्ली 1928, पृ.सं. 60

⁵पी. पंचपगेश शास्त्री, *दि फिलासफि आफ एस्थेटिक लिटरेचर*, श्री वानी विलास प्रेस, दिल्ली 1940, पृ.सं. 60

⁶के. सी पाण्डेय, *कम्परेटिव एस्थेटिक्स*, चैखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1950, पृ.सं. 33

⁷मुक्तिबोध माधवगजानन, एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ 2000, पृ.सं. 25

वांगमय में इतना वृहद और विस्तृत विवेचन किया गया है कि इसके अन्तर्गत सौन्दर्य के सभी पक्ष स्वतः ही समाहित हो जाते हैं. शास्त्रों में कहा भी गया है कि “आनो विश्वेषां रसं मध्वः सिंचन्त्वद्रयः” अर्थात् रस अपनी सरसता से सबको आर्द्र कर देता है.

भारतीय रस परंपरा में कलागत सौन्दर्य के साथ-साथ उसकी अनुभूति का भी सौन्दर्य निहित है. भारतीय दार्शनिकों ने भौतिक सौन्दर्य पर दार्शनिक विवेचन नहीं किये हैं. भारत में धार्मिक व सौन्दर्यात्मक अनुभूति एक ही रही है. भारतीय दृष्टि से सौन्दर्य सार्वभौम है, जिसकी अनुभूति अलौकिक होती है.

भारतीय चिन्तन के दृष्टिकोण से सौन्दर्य तत्त्व रस के अन्तर्गत ही निहित है. हम इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि रस एक बड़ा कैनवास है जिसके अन्तर्गत सौन्दर्य के सभी पक्ष स्वतः समाहित हो जाते हैं. जिसमें से आध्यात्मिक सौन्दर्य के अन्तर्गत सौन्दर्य को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया, कलात्मक व्याख्या में सौन्दर्य को ललित कलाओं का दर्शन माना गया और दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार सत्यं, शिवं, सुन्दरम् में ही सौन्दर्य का सार तत्त्व माना गया है.

भारतीय चिन्तन परंपरा में सौन्दर्य तत्त्व की व्याख्या ‘रस’ सिद्धान्त के अन्तर्गत की गई है. जिसके अन्तर्गत सौन्दर्य विषय की प्रत्येक विशिष्टता को समाहित कर लिया गया है. ‘रस’ अपने आप में एक संपूर्ण, समग्र सिद्धान्त है. ‘रस’ सिद्धान्त इतना व्यापक और स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत सौन्दर्य से सम्बन्धित प्रत्येक विषय का समन्वय स्वयं हो जाता है, और इस सिद्धान्त के माध्यम से सौन्दर्य विषयक भारतीय चिन्तन का स्वरूप भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है.

प्राचीन ग्रंथों में रस का संक्षिप्त स्वरूप-

रस का सर्वप्रथम अर्थ (पदार्थों के सार मूल द्रव्य के रूप में) वेदों में ही प्राप्त होता है परन्तु रस शब्द का शास्त्रीय विवेचन वैदिक काल में प्राप्त नहीं होता. वैदिक साहित्य में रस का प्रयोग विभिन्न अर्थों में प्राप्त होता है किन्तु वनस्पतियों के रस का प्रयोग प्रचुर होता था. वैदिक साहित्य में रस शब्द का प्रयोग सार के अर्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है. वेदों में जिस पदार्थ को सारभूत एवं अत्यन्त महत्व का बताना हुआ उसे उसे ‘रस’ शब्द से सम्बन्धित किया गया. इसका उल्लेख निम्न श्लोकों में प्राप्त होता है-

- यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अष्ठानां यो गवां यस्तनूनाम
रिपुस्तेनः स्तेयक्रदभ्रमेतु निषहीयतां तन्वा तना च.. ऋग्वेद
- अन्नात्परिश्रुतो रसं ब्रह्मणा. यजुर्वेद
- एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्याऽपो रसः. छान्दोग्योपनिषद्
- ते वा एते रसानां रसाः वेदा हि रसाः. छान्दोग्योपनिषद्
- स एष पुरुषोऽन्नरसमयः. तैत्तिरीयोपनिषद्

द्रव, आर्द्रता और मधुरता के अर्थ में गो, दुग्ध, मधु तथा सोम-रस आदि के अर्थों में रस का प्रयोग हुआ है. इसके अतिरिक्त सोम-द्रव अर्थात् रस अत्यधिक मधुर हृद्य, मादक और आकर्षक माना गया है. इसका वर्णन इस प्रकार से प्राप्त होता है-

- जन्मे रसस्या वावृधे.
- स्वादु रसो मधुपेयो वराय.

शतपथ ब्राम्हण में साख्यान होने के कारण गायत्री आदि छंदों को भी 'रस' की संज्ञा दी गई है. 'रस' की आर्द्रता सर्वत्र प्रसिद्ध है. यह अपनी सरसता से सबके हृदय को आर्द्र कर देता है. ऋग्वेद में 'सोम-रस' के अर्थ में 'रस' का प्रयोग हुआ है. यह आस्वादन में विशिष्ट होने तथा इसके पान से शरीर में स्फूर्ति, शक्ति, मद और आह्लाद का संचार होने के कारण यह लोगों का प्रिय था. आह्लाद या आनन्द का अनुभव क्रमशः परिवर्तित होते होते भौतिक से आध्यात्मिकता की ओर परिणत हुआ और कालान्तर में रस आत्मानन्द का वाचक बन गया. ऋग्वेद में ही नहीं वरन् अथर्ववेद में भी 'रस' शब्द के विकास के प्रमाण मिलते हैं जो इस प्रकार है-

आकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतंच नोनः
तमेय विद्वान न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्..

वैदिक काल में आगे चलकर अध्यात्म पर चिन्तन प्रारम्भ हुआ और रस की भावना को कहीं अधिक व्यापकता मिली.

रसो वै सः. रसं ह्योवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति. को ह्योवान्यात कः प्राण्यात्. यद्येष आनन्दो न स्यात्. एष ह्योवानन्दयति.

रस आनन्द रूप का पर्याय समझा जाने लगा. रस और ब्रह्म सहोदर माने जाने लगे. सृष्टि में सर्वत्र रस रूप अर्थात् आनन्द की व्याप्ति हो गयी. तैत्तिरीय उपनिषद् में इस बात का बड़ा सुन्दर प्रमाण प्राप्त होता है-

आनन्दो ब्रह्मेविति व्यजनात्
आनन्दाद्वेयव खिल्वमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवन्ति
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति..

उपनिषद् काल में अनेक भौतिक कल्पनाओं की भाँति रस को आध्यात्मिक स्वरूप के साथ-साथ आनन्दात्मक स्वरूप भी प्राप्त हुआ. इसमें रस का प्रयोग द्रव्य के अर्थ में नहीं अपितु द्रव्य की पोषक शक्ति और आस्वाद द्रव्य से प्राप्त उर्जा और आह्लाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ. तैत्तिरीय उपनिषद् में आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष की सृष्टि कही गई है एवं इसी कारण से पुरुष को अन्न रसमय कहा गया है.

रस की एक अन्य व्याख्या वात्स्यायन मुनि ने कामशास्त्रीय अर्थ में की है. कामशास्त्र में वात्स्यायन ने रस का प्रयोग मुख्यतः 'रति' और 'कामशक्ति' के अर्थ में किया है तथा रस को रति का पर्याय बताया है क्योंकि रति आस्वादन का माध्यम है.

रसो रतिः प्रतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः..

कामशास्त्र में रस का दूसरा अर्थ है कामशक्ति. यह रस का उत्तेजनापूर्ण अर्थ है. इस शक्ति के होने से शरीर में उत्तेजना, स्नायुमण्डल में गति और पेशियों में व्यापार होना आरम्भ हो जाता है. जिससे मानव का समस्त शरीर उत्तेजित हो उठता है और उसके मन में 'काम' चेतना तीव्रता से व्याप्त हो जाती है.

दर्शन की विभिन्न शाखाओं में से अद्वैत मूलक शैव दर्शन के अनुसार 'रस' आत्मचेतन और आनन्द है, वह जगत के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है. आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने रस चिन्तन में इसी आनन्द की अभिव्यक्ति की है. सांख्य दर्शन में 'रस' का अर्थ अधिक सूक्ष्म व अधिक उदात्त है. यहाँ 'रस' को सूचित करने वाली स्थिति का उल्लेख तन्मात्र से हुआ है. 'तन्मात्र' अर्थात् जो वस्तु मात्र में निहित है.

‘रस’ की एक अन्य विवेचना संगीत के परिप्रेक्ष्य में प्राप्त होती है। साधारणतया साहित्य के रसों का विवेचन ही प्रायः प्रत्येक कला में किया गया है, किन्तु नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने जातियों से रस का सम्बन्ध स्थापित करते हुए इसे नाट्य के संदर्भ में प्रयुक्त किया तथा नाट्य में प्रयुक्त होने वाले संगीत के स्वरों का भी रस निर्धारण किया।

इस प्रकार स्पष्टतः रस का मूल तो वेदों में ही परिलक्षित हुआ है परन्तु विशिष्ट रूप में रस के स्वरूप का विवेचन भरत मुनि से होता हुआ पं. जगन्नाथ तक हुआ है। कला का मूल कलाकार में बीज के रूप में निहित रहता है वह वृक्ष का रूप प्रयोगात्मक रूप में अपने कला व्यवहार के रूप में लेता है और पुष्प या फल की भाँति सामाजिक दृष्टि से अपने भाव स्वरूप रसास्वादन की अनुभूति कराता है और यही अनुभूति किसी भी कला की चरम उपलब्धि ‘आनन्द’ या ‘रस’ है।

‘रस’ शब्द की व्युत्पत्ति, विकास एवं शास्त्रीय स्वरूप:

‘रस’ शब्द भारतीय कला, संस्कृति और साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण व प्राचीन शब्द है। जिसका उल्लेख प्राचीन भारतीय ग्रंथों में मिलता है। वर्तमान समय में इस सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन प्राचीनतम प्रतिपादक ग्रंथ भरतकृत नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। निःसन्देह ‘रस’ का प्रेरणा स्रोत वेद एवं अन्य प्राचीन साहित्य रहा है क्योंकि भरतमुनि से पूर्व ही वैदिक साहित्य में रस की शास्त्रीय परंपरा प्रचलित थी, फलस्वरूप पंचम वेद ‘नाट्यशास्त्र’ की सामाग्री भरतमुनि ने वेदों से ही ग्रहण की थी। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने वेदों को ही आधार मानते हुए यह कहा है कि ऋग्वेद से पाठ्य अंश, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस का विकास हुआ है। इस प्रकार के कथन से ‘रस’ की प्राचीनता की मौलिकता का प्रमाण हमें प्राप्त हो जाता है। भारतीय चिन्तन परंपरा के अनुसार ‘रस विभाजन’ निम्न प्रकार से किया जा सकता है -

स्थूल रस- पाँच ज्ञानेन्द्रियों (कान, आँख, नाक, मुँह, त्वचा) द्वारा या मुख्यतः जिह्वा के माध्यम से जिस रस का आस्वादन हम करते हैं वह स्थूल रस है क्योंकि वहाँ हम उसे देख सकते हैं, स्पर्श कर सकते हैं, सूँघ सकते हैं और उसे चख भी सकते हैं।

मूर्त रस- आयुर्वेद में रस का अर्थ है पारद। यह प्रकृति रूप रस का अर्थ विकास है। जिसमें पदार्थ का सार उसके आस्वाद के आधार पर नहीं वरन् उसकी गुण शक्ति के आधार पर ग्रहण किया जाता है। आयुर्वेद का सम्बन्ध अथर्ववेद से माना गया है ऐसा महर्षि आत्रेय, अग्निवंश, चरक और सुश्रुत आदि आयुर्वेदज्ञ स्वीकार करते हैं। चरक संहिता (अग्निवेशतंत्र) में इसकी पुष्टि करता हुआ एक श्लोक मिलता है-

‘वेदानामात्मनोऽथर्ववेदे’

वस्तुतः आयु की वृद्धि करने वाला ग्रंथ आयुर्वेद है। सुश्रुत संहिता में शरीर में रस निर्माण विधि का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों का पेय, भोज्य, भज्य, लेह्य भेद से छह प्रकार का मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय आदि है। इन सभी के गुण के आधार पर इनकी विशेषता निम्न है जो इन्हें सामान्य भोजन के ‘स्वाद’ अर्थ से भिन्न करती है।

- मधुर रस शरीर के सातम्य होने से रस, रूधिर, मांस भेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य का वर्धक, आयुष्य ज्ञानेन्द्रिय एवं मन प्रसादक, प्रवीण, जीवन, शक्ति देने वाला, तृप्ति करने वाला, पुष्टिकर है।
- अम्ल रस अन्न में रूचि उत्पन्न करता है, अग्नि दीप्त करता है, देह पुष्ट करता है, जीवन देता है, मन को जागृत करता है, क्रियाशील करता है, इन्द्रियों को दृढ़ करता है।

- लवण रस पाचन, दीपन, आहार, को रूचिकर बनाने वाला शरीर के अवयवों को मृदु करने वाला एवं रक्तवर्धक होता है.
- तिक्त रस अपने आप में अरूचिकर होने पर भी भोजन में उत्पन्न अरूचि को तथा विष, कृति, मूर्छा, उत्पलेद, ज्वर, दाह, व्यास, कुष्ठ और कुण्डु (चर्म रोग) को नष्ट करता है. यह दीपन, वाचन, दूध और कण्ठ का शोधन करने वाला है.
- कटुरस इन्द्रियों को विकसित करता है, रक्त के संघात को तोड़ता है, बंधों को अलग करता है, स्रोतों को खोलता है.
- कषाय अतिरूक्ष गुरु त्वचा को सवर्ण करने वाला, क्लेद को सुखाने वाला, शीत, पीणन, रोपन और लेपन है.

इस प्रकार षड्रस अपनी विशेषता के कारण जीवन के सम्पोषक माने जाते हैं. आयुर्वेद के पश्चात् चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला को भी मूर्त रस की श्रेणी में ही रखा जायेगा. इसमें भी सबसे मूर्त कला मूर्तिकला है. मूर्त शब्द से ही मूर्तिकला शब्द बना है. इसके पश्चात् वास्तुकला और तब चित्रकला आती है. ये सभी कलाएँ 'चाक्षुस' हैं अर्थात् इन्हें देखा जा सकता है, छुआ जा सकता है. इस कारण यह मूर्त कलाओं की श्रेणी में आती हैं.

अमूर्त रस- रस के अमूर्त रूप में साहित्य, नाट्य तथा संगीत जैसे सृजनात्मक स्वरूपों का समावेश होता है. साहित्य को तो फिर भी लिखित अवस्था में प्राप्त होता है, नाटक में भी हम कुछ घटित होता हुआ देखते हैं लेकिन संगीत के उपकरण स्वर, ताल, लय अत्यन्त सूक्ष्म व अमूर्त हैं अतः संगीत द्वारा प्राप्त रसास्वादन पूर्ण रूप से अमूर्त होता है. इसी कारण से संगीत को कलाओं में सर्वोत्तम कहा गया है एवं संगीत को ही उस परमानन्द की प्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन कहा गया है. इस प्रकार अमूर्त रस की विवेचना के अन्तर्गत हम कुछ मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे, जो भारतीय सौन्दर्य दृष्टि को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने के लिए आवश्यक है.

भरत मुनि का रस सिद्धान्त-

अमूर्त रस की व्याख्या भरत ने रस सिद्धान्त के अन्तर्गत की है. जिसमें रस पर प्रकाश डालते हुये भरत कहते हैं-

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है. इस प्रकार रस को समझने के पूर्व हमें संक्षिप्त रूप से इन विषयों पर प्रकाश डालना होगा. जो कि इस प्रकार है-

नाटक में किसी व्यक्ति से सम्बन्धित विशेष परिस्थितियाँ विशिष्ट भावों को उत्पन्न करती हैं. यह भाव किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए क्रमिक घटना चक्र का निर्माण करता है. उद्देश्य की प्राप्ति तक यह भाव स्थायी बना रहता है इसलिये भरत मुनि ने इसे स्थायी भाव कहा है. इससे सम्बन्धित अन्य भावों को संचारी भाव कहा गया है, किन्तु नाटक का कलाकार या दर्शक परिस्थितियों से सचमुच सम्बन्धित नहीं होते इसलिये मंच पर दिखायी जाने वाली परिस्थिति को विभाव कहते हैं. शारीरिक परिवर्तन अनुभाव तथा संचरित होने वाले भावों को संचारी न कहकर व्यभिचारी भाव कहा गया है. परिस्थिति अर्थात् विभाव के दो रूप हैं- आलम्बन तथा उद्दीपन. प्रकृति या वातावरण उद्दीपन कहलाता है और हम अपने भावों का आधार जिस अन्य व्यक्ति को बनाते हैं वह आलम्बन होता है. अभिनेता, कलाकार, नायक स्वयं भाव का आश्रय होता है.

वे सब शारीरिक परिवर्तन जो किसी स्थायी भाव के जागृत होने पर उत्पन्न होते हैं और जो उस स्थायी भाव का कार्य कहे जाते हैं वह अनुभाव कहलाते हैं। शारीरिक चेष्टाएँ जो इच्छापूर्वक की जाती हैं कायिक और मानसिक अनुभाव कहलाती हैं, किन्तु जो स्वयं प्रकट होत हैं वह सात्विक अनुभाव कही जाती हैं।

भरत मुनि ने 8 स्थायी भाव, 8 सात्विक भाव, तथा 33 संचारी भावों का उल्लेख किया है। इनमें से जो 8 स्थायी भाव हैं वे ही विभाव, अनुभाव, तथा संचारी आदि से पुष्ट होकर रस की स्थिती तक पहुँचते हैं। ऐसा कहा जाता है कि भरत मुनि ने ईसा पूर्व तीसरी शती में आठ रसों एवं आचार्य अभिनवगुप्त ने दसवीं शती में नौ रसों की प्रतिष्ठा की है परन्तु नौ रसों की प्रतिष्ठा भरत मुनि के पहले ही आदि काल से रही है, प्रस्तुत है इस तथ्य के तीन प्रमाण संदर्भ-

- रसस्य नव विज्ञेया जलस्या जलयो दश
सप्तैव तु पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः..
(याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित अध्याय, श्लोक 105)
- हालस्यलास्यक्रियाश्चैव नवनाट्यरसान्विताः
मुद्रामन्त्रविकल्पाश्च वज्रसत्वविचेष्टितम्..
(गुह्यसमाजनिदानकारिका, बौद्धतन्त्र, कारिका 39)
- तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरस-महाताण्डव-नटम्..
(सौन्दर्यलहरी, आदि शंकराचार्य, कारिका 41)

स्पष्ट है कि भरत मुनि के समय भी नव रस ही प्रचलित थे परन्तु आचार्य भरत ने रसों की संख्या 8 मानी जो की इस प्रकार है-

स्थायी भाव	रस
रति	शृंगार
हास	हास्य
शोक	करुण
उत्साह	वीर
क्रोध	रौद्र
जुगुप्सा	वीभत्स
भय	भयानक
आश्चर्य	अद्भुत

भरत ने रसों का स्थायी भाव से सम्बन्ध बताते हुये यह भी कहा है कि स्थायी भाव ही रस नहीं हैं। जब स्थायी भाव का विभाव, अनुभाव तथा संचारी से संयोग होता है तभी इनका समग्र अनुभव रस के रूप में होता है।

संदर्भ ग्रंथ-

- हरिशंकर मिश्र, *सौन्दर्यशास्त्र; स्वरूप एवं सम्भावनाएँ*, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1997
- रामचंद्र शुक्ल, *सौन्दर्यशास्त्र*, ओरियन्टल पब्लिशिंग हाऊस, कानपुर, 1981
- विश्वनाथ प्रसाद, *सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति*, अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981
- पी. डी. अग्निहोत्री, *शृंगार प्रकाश*, अनुवाद- राघवन वी. कृत, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1981
- दशरथ ओझा, *रास एवं रसान्वयी काव्य*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2016
- नगेन्द्र, *सौन्दर्य की परिभाषा व स्वरूप*, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1974
- हेम भटनागर, *हिन्दी के शृंगार युग में संगीत काव्य*, नालंदा प्रेस, नई दिल्ली 1987
- पुरुषोत्तमदास अग्रवाल, *मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य में रूप-सौन्दर्य*, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1997
- के. एस. रामस्वामीशास्त्री, *इण्डियन ऐस्थेटिक्स*, श्री वानी विलास प्रेस, दिल्ली, 1928
- पी. पंचपगेश शास्त्री, *दि फिलासॉफि ऑफ ऐस्थेटिक लिट्रेचर*, श्री वानी विलास प्रेस, दिल्ली, 1940
- के.सी पाण्डेय, *कम्पेरिटिव ऐस्थेटिक्स*, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1950
- छांदोग्यउपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1983
- तैत्तिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, 1965
- भरत कृत, अनुवादक- बाबूलाल शुक्लशास्त्री, नाट्यशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
- महर्षि चरक, व्याख्याकार शास्त्री काशीनाथ एवं चतुर्वेदी डॉ. गोरखनाथ, चरक संहिता, चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन, 1998